सप्तश्लोकी गीता
आध्यात्मिक अनुभवाभास भाषा।

प्राप्त।

"यथा पशुर्भारबाही न तस्य भजते फलम्" ॥
"द्विजस्तथार्थानभिज्ञो न वेदफलमश्नुते" ॥
(वेदव्यास)

हाइस्कूल उदयपुर (मेवाड़) के हेडमास्टर
राय साहिब हजारीलालजीसे प्रकाशित।
एवं
संस्कृत अध्यापक पण्डितवर
गयादत्तजी शर्म्मासे संशोधित ॥

उदयपुर,
अख्तर प्रेसमें मुद्रित हुई.
संवत् १९५३ विक्रमी.

प्रथम संस्करण ५०० प्रति.

उत्सर्ग.

परम पूजनीय परमहंस परिव्राजकाचार्य्य
जगत्गुरु श्रीमत्स्वामी आत्मानन्द गिरि
श्रीगुरुदेव महाराज श्रीश्री चरणकमलेषू॥
॥ वृद्धिपुरा " कैलास " काशीधाम ॥

हे गुरो ! आज "अनुभवाभास नाम्नी" सप्तश्लोकी गीताके " गुप्त रहस्य " भाषा, भवदीय श्रीपाद पद्ममें उत्सर्ग करता हूं। बाला सत्य एवं अति मधुर भाषिणी जन्य, अकुलीन से गोपन और कुलीनको अर्पण करनेसे, जो अनवरत, सुफल प्रसव करेगी सो सत्य कथा। अलमति विस्तरेण॥

प्रणत शिष्यस्य॥

Printed at the Akhter Press,

Oodeypore.

विज्ञापन.

सप्तश्लोकी गीताका, आध्यात्मिक अनुभवाभास, यथा शक्ति, प्रकाश कियागया। अमृतसागर श्रीमत्-भगवद्गीताके सात श्लोक मात्र लेकरके सप्तश्लोकी गीता। जगत् गुरु श्रीकृष्ण (कूटस्थ ब्रह्म) ने जीवोंके कल्याणके लिये, ब्रह्मविद्याके सार, योग शास्त्र रूप प्रत्यक्ष अनुभव से, साधक श्रेष्ठ अर्ज्जुनका, जो भ्रमापनोदन किया था। यह सात श्लोक, उसीका प्रत्यक्षार्थ बोधक है। इसके गूढ मर्म्म, अर्थका ज्ञान, योग साधनके बिना नहीं हो-सक्ता। बाहिरके स्वर, व्यञ्जन, कोषका आश्रय करके, आन्तरिक विषयके सिद्धान्तकी आशा करना, विडम्बना मात्र है। मेरुदण्ड मध्यस्थ, सुषुम्ना नाल ग्रथित, षट्-कमलके एक एक पत्रमें एक एक मात्रिक वर्णका परिचय होता है। इससे साधक आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक सकल विषय प्रत्यक्ष करके शान्ति लाभ करता है। सत् गुरुके द्वारा सत् पथको प्राप्त होकर-के, साधन मार्गमें उन्नति करते करते; बुद्धिमान साधक

निज बोध ज्ञानसे, आपही आप गूढ रहस्य भेद कर-लेवेगा (याने छिपा भेद जान लेवेगा)। जब तक सत् गुरुकी कृपा न होगी; तब तक धीरज धरकर, प्राप्ति लालसाकी वृद्धि करना चाहिये। आपापन्थी अहंकार से, अन्तर्लक्ष विषयमें अनास्था, अथवा अयोग्य शब्द प्रयोग करके, धृष्टता प्रकाश करना अनुचित है। जिस अवस्थाको प्राप्त होनेसे " सर्व्वं ब्रह्ममयं जगत् " ऐसा ज्ञान होता है। जिसमें स्थिति होनेसे "मैं" "मेरा" "तू" "तेरा" इत्यादि, भेदज्ञान मात्रका अभाव होजाता है; उस अवस्थाको अपने आधीन करनेके लिये, आर्य्य-कुल-भूषण मात्रको यत्न करना उचित है। इस विषयमें जो कुछ लिखागया है; साधन करते करते आपही आप देखोगे, अभ्रान्त सत्य। इत्यलम् ॥

प्रकाशकस्य ॥
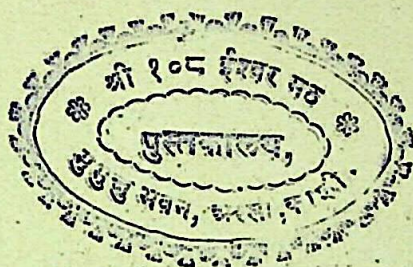
॥ श्री हरि शरणं ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ ॐ नमो श्रीगुरुदेवायनमः ॥

॥ अथ सप्तश्लोकी गीता अनुभवाभास भाषा प्रारंभः ॥
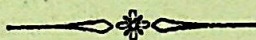
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ॥
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम् ॥
॥ १ ॥

ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् (उच्चारयन्) माम् अनुस्मरन् देहं त्यजन् यः प्रयाति सः परमांगतिं (मद्गतिं) याति ॥ (इदन्तु सद्गुरूपदेश ज्ञेयम्) ॥ १ ॥

ॐ, इस एकाक्षर ब्रह्म स्वरूप मंत्रके उच्चारण द्वारा मेरा स्मरण करते करते जो, यह शरीर छोड़कर चला जासक्ता है; सो ही परमागतिको प्राप्तहोता है॥ १॥

अनुभवाभास॥ ॐ। ॐ शब्द लेकर जो ब्रह्म स्वरूप एकाक्षर मंत्र (मनका त्राण करे सो ही मंत्र। भटकने वाले मनकी स्थितिको त्राण कहते हैं। सो जिसमें वह होता है सो ही मंत्र)। अ-कार, उ-कार, म-कार। ब्रह्मा, विष्णु, महेश। रज, सत्व, तम गुण। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर। सृष्टि, स्थिति (अर्थात् पालन), और नाश रूप क्रिया लेकर कार्य ब्रह्म रूप जो यह शरीर। अस्ति = सत्, भाति = चित्, प्रिय = आनन्द। जो नाम और रूपसे पहिचाना जाता है। पांचकी समष्टि करके परिपूर्ण। एक अर्थात् द्वैत वर्जित। अक्षर, अर्थात् अनाशवान ब्रह्म, ऐसा सिद्धान्त करके; व्याहरन् (उच्चारयन्), उत् = ऊर्द्ध, चार = दौड़ने वाला, अयन = व्यूह प्रवेश द्वार (प्रवेश होनेका द्वार, जो ऊंचे है) जिसमें दौड़कर प्रवेश करनेके लिये ठिकाना, युक्ति, क्रियाका उपदेश (याने जीवोंकी मुक्ति किस रीतिसे होती है), अर्थात् उन जीवोंको, जो ब्रह्ममें इच्छाको आश्रय करके (लगाकर), माया, पुरुष, सत्व,

रज और तम गुणमयी प्रकृति, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, मृत्तिका आदि भेद ज्ञानके कारण, नीचे उतर आकर फंसे हुए हैं; उनको फिर ब्रह्म स्वरूप कैसे प्राप्त होसक्ता है। पतित् पावन हरि इसका निरूपण करते हैं। (क्रिया गुरूपदेश गम्य) श्रीमद्भागवत् ४ थं स्कन्द, २३ अध्याय, ११।१२।१३। १४।१५ श्लोक देखो। ऊंचा किस रीतिसे फिर चढ़ना हो सक्ता है ? “ माम् अनुस्मरन् ” माम् = मैं, अर्थात् ब्रह्म। मेरे अनुको स्मरण करते करते जैसे नीचे उतरे थे, वैसे ही ऊंचे चढ़ेंगे। कहांसे ? “ आधार पद्म मध्यस्था ” अर्थात् मूलाधार पद्म, चार दल वाला जो गुदासे दो अंगुल ऊपर और लिङ्गसे दो अंगुल नीचे है। यहां पर शरीर की समस्त नाड़ियोंमें प्रधान १४ नाड़ियोंका मूल, अर्थात् जड़ है (सत् गुरूपदेशसे प्रत्यक्ष होता है)। वे सब जड़ें यहां पर एकट्ठी हुई हैं, वह स्थान कमल कन्द (कमल डोडी) के आकारसे सम भाग ४ अंगुल विस्तृत है। उसीकी परिधिको योनि मण्डल कहते हैं। वह मण्डल पश्चिम मुख है। इस शरीरके दाहिने हाथ को दक्षिण, बाएंको उत्तर, सन्मुखको पूर्व और पीठकी ओरको पश्चिम कहते हैं। उस पद्मके बाईं ओरसे ईडा

और दक्षिणसे पिङ्गला, इन दोनों नाड़ियोंका उत्थान हुआ है। इन्हींको चन्द्र और सूर्य्य नामसे भी पुकारते हैं। और उस परिधिके भीतरकी तरफ चतुष्कोणाकार पृथ्वी स्थान है। इसलिये इस चक्रको भूः लोक कहते हैं। उस चतुष्कोणके ठीक मध्यमें त्रिकोणाकार योनि स्थान है। जिसके मध्यमें सुषुम्ना नाड़ीका मुख है। वह सुषुम्ना उस आधार पद्मसे उठकर मनुष्योंकी पीठके बीचमें रीढ़ (मेरुदण्ड) अस्थिके भीतर भीतर पोल (छिद्र) को आश्रय करके, मस्तकके भीतर सहस्रार कमल पर्य्यन्त विस्तृत है। उस सुषुम्नाके ठीक मुखमें एक छिद्र है। उस छिद्रके मुखको, मुखसे स्पर्श करती हुई, वह जो योनि मध्यस्था, विद्युत् पुंज प्रदीपिका; अर्थात् बिजलियोंके पर्व्वतके समान तेजोमयी गायत्री हैं; (गाय = भौतिक देह, और त्री = तारना), अर्थात् पांच भूतका शरीरसे त्राण करने वाली। "महा पद्म वनमयी"। वह जो सुषुम्ना नाड़ीका विस्तार; उसीके मध्य भागमें, एकके पीछे एक, एकके पीछें एक ऐसे, लिङ्ग मूलमें स्वाधिष्ठान षटदल; नाभिमें मणिपुर दश दल; हृदयमें अनाहत द्वादश दल; कण्ठमें विशुद्ध षोडश दल; भ्रू मध्यमें आज्ञा दो दल; एवं मस्तकमें

सहस्र दल पद्म है (गुरूपदेशसे प्रत्यत्त दर्शन होता है)। वह सुषुम्नाके भीतर भीतर प्रत्येक कमलके मध्यको भेदकर के, मूलाधारसे सहस्रार तक, वज्रा नामा एक नाड़ी है। उस वज्राके भीतरका छिद्र, कमलकी डांडी तोड़नेसे जो सूत्र निकलता है; उसके एक सूत्रके समान सूक्ष्म है। उस छिद्रके भीतरके आकाशका नाम चित्रा है। चित्रा के भीतर देकर प्राण और अपान रूपा जगद्धात्री (जगत् = जो जावेगा, अर्थात् शरीर; और धात्री = धारण करके रहने वाली) प्रत्येक कमल में खेलती रहती है। इसलिये महा पद्मवनमयी कहलाती है। "महा पाप विमोचनी"। उस वज्राके मध्यके आकाश में, सतगुरूपदिष्ट क्रियासे, उस गायत्री रूपा कुल कुण्डलिनी (कु = विषय, शब्द स्पर्शादि; ल = भोग वासना; कुण्डलिनी = समेटने वाली) को उठालेने से, अनेक चित्र विचित्र रङ्ग देख पडते हैं। और मनकी चञ्चलता छूटजाती है। उस मनकी चञ्चल अवस्थाको तत्व दर्शी योगीजन पाप कहते हैं। इसलिये महापाप विमोचनी कही गई है। "महा पुण्यमयी नित्या"। पु = पुय:, अर्थात् मल मूत्रमय शरीर, ण = आत्मा, य = स्वरूप, अर्थात् मल मूत्र मय शरीरमें प्राणका

चल अवस्था रूपमन, और अशरीरी आत्मामें, निर्वाणउठा
रूप स्थिति लेकर जिसका अस्तित्व; अर्थात् प्राणायामअ
रूप जिसका शरीर (प्राण – आ – यम) प्राणमें आसक्तिहि
करने से (गुरूपदेश गम्य) अहिंसा, सत्य, अक्रोधऔ
ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; इन पांचोंके मेलसे कैसी एकशर
अवस्था आजाती है; जिसमें ज्ञात होता है कि, 'मैं ब्रह्म
शरीरसे पृथक कैसे स्थानमें है। इस अवस्थामें वायुक्र
स्थिर होजाता है; और मृत्यु नहीं होती है। इसलियेश्री
महा पुण्यमयी नित्या कही गई हैं। इस अवस्थामेंश्री
साधकके सत्व, रज और तम, तीनों गुण अपनी अपनीरङ्ग
अलग अलग क्रिया छोड़करके, एकट्ठे होजाते हैं। जिसही
लिये, सत् – चित् – आनन्द रूपा। ऐसी जो प्रणवॐ
स्वरूप गायत्री; सो अजपा विद्या। भूर्भुवः स्वः (भूः = गा
गुदा, भूवः = कण्ठ, स्वः = सहस्रार गुरु पद, अर्थात्पां
पृथ्वी, आकाश, एवं अखण्ड मण्डलाकार चराचरसम
व्याप्त अनन्त ब्रह्मपद) में विहार करने वाली। "ततः
प्रणव मुद्धृत्य सुमेरुः सेतु रूपकः"। तहां (वह मूला-का
धार चक्रके त्रिकोणके भीतर सुषुम्नाके मुखमें) उससा
प्रणव मयी गायत्रीको; क्रियाके आरम्भ समय (उत् = वा
ऊर्द्ध्में धारण, अर्थात् ऊंचे ब्रह्ममें लय करनेके लिये) मह

उठानेमें मेरु, अर्थात् शरीरकी पीठकी रीढ़को सेतु, अर्थात् पार उतारने वाले पुल करके, तत्व ज्ञानसे (तत्व क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश) एक एक का विशुद्ध और मिश्र, अर्थात् मिले हुए रङ्गसे प्रत्यक्ष करेंगे। यह शरीरका पादाङ्गुष्ठ, अर्थात् पांवकी बड़ी अंगुलीसे मस्तक पर्य्यन्त शरीर कहाजाता है। इसमें मूलाधार च-क्रसे, प्रथम वायुका उत्थान करनेके समयसे शेष पर्य्यन्त, श्री गुरुपदमें दर्शन होवेगा। तत्से आत्कार तक चौ-बीस वर्ण, और उन सबोंके प्रकाश का स्थान, और रङ्ग समस्त कहदेते हैं। जिसे देखकर साधकको आप-ही आप निश्चय होजायेगा। "पादादि मस्तकान्तञ्च ॐ भूर्भुवः स्वर्न्यसेत् सुधीः। सप्तधा विन्यसेत् विद्वान् गायत्री क्रमतस्ततः"॥ सुबुद्धिमान क्रियावान साधक, पांवसे मस्तक पर्य्यन्त शरीरको विस्तृत होनेके लिये, स्वरूप स्थानको नाश करेंगे। (एक स्थानसे चलनेका प्रा-रम्भ करके तदाकार और एक विश्राम भूमिमें पहुंचने का नाम "धा") सप्तधा, अर्थात् शरीर के प्रधान सात स्थानमें, यथा क्रम सहस्रार तक कीर्ति, श्री, वाक, स्मृति, मेधा, धृति, और क्षमा नामकी जो सात महाशक्तियां, अपने अपने कार्यको सम्पादन कररही हैं;

यह सात माताके भीतर, ऊर्द्ध शक्तिका निपात्, अधो-
शक्तिका निकुञ्चन करके, मध्य शक्तियोंका प्रबोध करेंगे।
(क्रिया गुरु बोध गम्य)। भू: पृथ्वीका अनुभुव: जल
में, ऐसे स्व:, मह:, जन, तप सत्यके बाद हंसद्वय,
गुरु द्वारमें चित्त निवेशित करके, समाधि साम्यसे
उत्पन्न; साधक निश्चलताको पावेंगे (साधक मात्रोंको
यह क्रिया मालूम है)। और न्यासकालमें, पादाङ्गुष्ठ
(पांवकी बड़ी अंगुलियों) से क्रमश:, अर्थात् एकके
बाद एक, कौन कौन अक्षरका प्रत्यच्छ करेगा, सो निर्णय
करदेते हैं। "पादाङ्गुष्ठे न्यसेत् योगी तत्कारं भाव-
त्पर:" (एक वस्तुको एक वस्तुमें मिलानेका नाम योग
है), अर्थात् साधक जब त्रितापमय विश्व भ्रमको पर
ब्रह्ममें लय करनेको आवेंगे, तब विश्व ज्ञान और ब्रह्म
ज्ञानको तत्पदमें स्त्री और पुरुषाकारसे प्रत्यक्ष करेंगे
केवल पुरुष पुरुष, अथवा स्त्री स्त्रीमें भाव नहीं
होता; किन्तु स्त्री और पुरुषमें भाव (प्रीति की इच्छा)
होता है। भ-कार = गुरु वाक्यमें विश्वास, आ-कार
= आसक्ति, व-कार = शून्य। यहां गुरु वाक्य एवं
विश्वासकी आसक्ति भी लय होती है, सो ही भावा-
वस्था। वि = विगत = स्वास, अर्थात् वायु: क्रिया

गुरूपदेशसे, क्रिया द्वारा प्राणवायु स्थिर होने के बाद आसक्ति लय होती है। जो वस्तुमें आसक्ति, तिसका आकार में एक रस जब तक नहीं होता है; तब तक आसक्ति बनी रहती है। अतएव जिस अवस्थामें "मैं" और "मेरा" ज्ञान नहीं रहता है, उसीको भावावस्था अर्थात् योगावस्था कहते हैं। वैसी अवस्था में हरदम रहने वालेको योगी कहते हैं। अनुभव प्रत्यक्ष अथच वाणीका अविषय। योगी तत् ब्रह्ममें, इस प्रकार की अवस्थाको आश्रय करके अनुभव करेगा, कि तत्कार पांवकी बड़ी अङ्गुलियोंका रक्षक, अर्थात् आश्रय है। स-कार अंगुलियोंके मध्यका रक्षक है। वि-कार जंघाका, तु-कार जानूका, र्व-कार मध्य देशका, रे-कार गुदा का, पुनः ण-कारको लिंगस्थानका रक्षक है। ऐसा प्रत्यक्ष करेगा। यं-कारको कटि देशका, पुनः भ-कारको नाभि मण्डल, र्गो-कारको जठर (उदर), दे-कारको स्तन दोनों, व-कारको हृदय, पुनः स्य-कारको कंठ देशका आश्रय करके रक्षा करते हुए देखेगा। धी-कार वदन, म-कार तालु, हि-कार नासिका का अग्रभाग एवं धि-कारको चक्षु द्वयका रक्षक देखेगा। योगी प्रथम यो-कारको भ्रु मध्यमें एवं दूसरे यो-कारको

ललाट देशका रक्षक देखेगा। नः-कारको मुखमें,
कारको दक्षिण दिशामें, चो-कारको तैसे पश्चिम,
कारको उत्तर, एवं यात्-कारको शरीरका मूर्
(मूर्द्धामें) अर्थात् प्रतिअणु परमाणुके भीतर बाहि
व्याप्त होकर रक्षा करते हुए प्रत्यक्ष करेगा। इसीक
गायत्री कवच, अर्थात् गायत्री मय शरीर कोष कहते हैं

साधक किस अक्षरको कैसे दर्शन करेगा, तिस
उपदेश करते हैं। साधक प्रथम तत्कारको पीत चम्पा
ऐसा रङ्गसे प्रत्यक्ष करेगा। जो तत्कार "कार्य्य ब्रह्म
ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरकी विश्राम भूमि है। स-का
को श्याम, वि-कारको कपिल, तु-कारको इन्द्रनील
वे-कारको सम्यक अग्निके रङ्गसे, एवं रे-कारको अग्नि
द्युतिके रूपसे दर्शन करेगा। ण-कारको अति निर्म
रूपसे, यं-कारको बिजलीके आकारसे, भ-कारक
कृष्ण, र्गो-कारको रक्त वर्ण, दे-कारको श्यामल, व
कारको शुक्ल द्युतिमें, पुनः स्य-कारको श्यामल प्रत्यक्ष
करेगा। धी-कारको कुन्द पुष्पके प्रभामय रूपसे, म
कारको केवल शुक्ल, और हि-कारको चन्द्र वर्णसे
प्रत्यक्ष करेगा। धि-कारको पीत, यो-कारको तडितव
आकारसे, दूसरे यो-कारको धूम्रके रङ्गसे, अशेष करव

जहां तहां वायु बीज, मनके चञ्चलता रूप पापको शोधन करते हैं दर्शनमें आवेगा। न:-कारको गले हुए सुवर्णके रंगसे, और न-कारके पास जो दो बिन्दु हैं, उनमें ऊपर वालेको रक्त और नीचे वालेको श्याम रङ्ग करके देखेगा। प्र-कारको नील कमलके पन्नाके समान श्याम रूपसे दक्षिण दिशामें, चो-कारको पश्चिम दिशामें अचञ्चल गौलोचनके पीत रङ्ग करके, द-कारको सफेद शंखके समान आकारसे उत्तर दिशा में, और यात्कारको मूर्ध्नि, अर्थात् ब्रह्म मन्दिरमें ऊंचे मुख करके रहनेमें प्रत्यक्ष करेगा। यह जो गायत्री, (शरीर से अलग स्थान) इनको ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अर्थात् सत्व, रज, तम गुणकी विश्राम भूमि (याने बैठने की जगह) जानना। क्रिया करते करते, साधक यथा क्रम अनुसार मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रमें (विषतन्तु समाकृति) सर्पाकारा कुल कुण्डलिनीको उठावेगा। उठाते मात्र साधक को तत् ब्रह्म पद दर्शन होवेगा। (भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानमें जानने के योग्य जो कोई विषय; समस्त तत् ब्रह्म पदमें ही प्रत्यक्ष होवेगा) वह तत् ब्रह्म पद कैसा है? "तत्सवितुर्व्वरेण्यं" सविता = सूर्य्य, वर = श्रेष्ठ,

णक = निर्व्वाण, यं = वायु। श्रेष्ठ सूर्य्यमें वायुका लय
श्रेष्ठ सूर्य्य; सृ = गत्यर्थे ऋ का स्थानमें उर, उ = शब्द
गमन, र = शब्दे अग्नि और यं = शब्दे स्वरूप अर्था
सर्व्वत्र व्याप्त तैजस पदार्थ। चर और अचर रूप
व्याप्त जो तेजोराशी, उसीको सूर्य्य कहा है। प्रा
वायुकी स्थिति होते मात्र ही, गुरु ब्रह्म रूप (गु-का
आन्धकार: गुकारको अन्धकार, यहां कुछ मालूम नह
पड़ता है, अर्थात् घोर तमोमय; और रु-कारव
तन्निरोधक, अर्थात् उस अन्धकारको दूर करने वाल
उजेला, अर्थात् असीम प्रकाशको कहते हैं। उ
अन्धियारे और उजेलेका एकत्र समावेश जो दर्शन
आता है, उसीको गुरु ब्रह्म पद कहते हैं) श्रेष्ठ सूर्य्य
(चर्म्म चक्षुमें जो सूर्य्यका दर्शन होता है, उस सूर्य्य
मण्डलाकार किनारेमें घोर प्रकाश और मण्डल मध्यस्थ
ज़मीनमें श्यामता परिपूर्ण है, यह सच है; किन्तु दर्शन
में क्लेश होता है; और परिणामी, अर्थात् बदलने
वाली गति विशिष्ठ। सर्वत्र एक रस नहीं। दिन
मानमें प्रकाश और रात्रिमें अप्रकाश रहने के लिये
"वर" श्रेष्ठत्व कुछ नहीं दियागया। जो सूर्य्य "सूर्य्य
कोटि प्रतीकाशं" अर्थात् कोटि सूर्य्यसे भी जिसमें

अधिक प्रकाश; और "चन्द्र कोटि सुशीतलम्" कोटि चन्द्रसे भी शीतल है; जो सूर्य्य दिन रात्रि समभाव विद्यमान; इच्छा मात्रसे जिनका दर्शन होता है; देखनेमें क्लेश होना क्या कथा, प्राणवायुका स्थिरता जन्य, मन जहां कल्पना शून्य नपुंसक बनजाता है। जो पद चिरन्तन जन्य अच्च्युत कहलाता है। उसीको "वर" अर्थात् श्रेष्ठ सूर्य्य कहते हैं। "आदित्या-नामहं विष्णु" अनादि से जब मैंने प्रथम स्वादित्वकी सृष्टि किया था, तब केवल भावमय तदाकार हुआ था; सोही तत्पद जानना। "अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं तत्पदं" अखण्डित गोलाकार, चर=शरीर, अचर=आकाश, इसमें जो व्याप्त है; अर्थात् चक्षु मीचकर देखने से भी जिनको शरीर के भीतर और शरीरसे बाहिर देख पड़ता है; सोही तत्पद है। "तद् विष्णोर्परमं पदम्" तत् विष्णुका परम पद है। विष= व्याप्ति, ण=आत्मा, उ=चैतन्य। विश्व व्यापक चैतन्यात्मा ही विष्णु। जिनकी विशेष करके स्थिति है सोही विष्णु। चराचर मय विश्वकी लयोत्पत्तिसे जिनमें क्षति अथवा वृद्धि नहीं है, सोही विष्णु पद "सदा पश्यन्ति सूरयः" (अन्धे लोग सदाकाल तत्पद

का दर्शन पाते हैं) आठों पहर लड़े सो शूर। इस
शरीरके भीतर आठों पहर लड़ने वाले प्राण वायु औ
वैश्वानर नामक जठराग्नि है। प्राणवायु और जठराग्नि
जिनको सदाकाल दर्शन करते हुए अपना अपना अ
स्तित्व सम्पादन कर रहे हैं। "दिवी-व चक्षुराततम्
दिव=आकाश, इव=समान, (आकाशके समान
चक्षु) आ=आसक्ति। अर्थात् आसक्ति करके तत्पद
का दर्शन करने से, प्रकाश मय आकाशके सामान
एक चक्षु मात्र प्रत्यक्ष होता है। उसीको तत्पद कहते
हैं। वही विष्णुका परम पद अर्थात् गोलक धाम है
गोलक अर्थमें, पिताका मृत्युके बाद, माताकी घो
आसक्ति मय क्रियासे जिसकी उत्पत्ति। पिता=
प्राणवायु, माता=मनका आश्रय स्थल। उस प्राण
वायुकी स्थिति अर्थात् लय होनेके बाद मन जिसको
प्रसव करता है। वही गोलक। वह गोलक कैसा है
"कोदण्ड द्वय मध्यस्थ" कोदण्ड=धनु, द्वय=दो
अर्थात् दो धनु परिमाण ज़मीनका मध्यस्थान। "पश्यन्ति
ज्ञानचक्षुसा" ज्ञान चक्षु करके दर्शनमें आता है
"कदम्बगोलकाकारं" कदम्ब पुष्पके समान गोलका
कार। "ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते" दर्शन करने वाले क

दर्शन करते मात्र ब्रह्ममें गति होती है। वह तत्पद है। ही श्रेष्ठ सूर्य्य जानोगे।

उस सूर्य्य के बीच में, नक्षत्रके आकारसे, एक बिन्दु मिलता है। उस बिन्दुके अनेक नाम हैं। उपनिषत् में उसी बिन्दुको हिरण्यमय पात्र कहते हैं। "हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्या-पिहितं मुखं" सुवर्ण मय पात्रसे सत्य ब्रह्मका मुख पिहित, आवरित अर्थात् छेपा हुआ है। वह बिन्दु, जीवको त्रितापसे मुक्ति कराय देता है। इसलिये जगत् में, तारक ब्रह्म भी कहलाता है। वह लिङ्ग, जीवका अशेष मङ्गल अर्थात् मृत्यु भयसे उद्धार करता है। इसलिये उसको शिवलिङ्ग अर्थात् कल्याण चिन्ह कहते हैं। उस लिङ्गका आकार, एक तोला विशुद्ध सुवर्ण मय गोली जैसी बनती है तैसे। साधक को लक्ष भेद करके "खर्ज्जुराद्धीसनं लिङ्गं कन्दर्पज्वरनाशनं। अणिमादिगुणैर्युक्तं ब्रह्मोपेन्द्रादिसेवितं" (विद्युल्लता तन्त्रे) खर्ज्जुर बीज के आधे अंशके समान भी दर्शन में आता है। वही सुवर्ण मय शिवलिङ्ग है। उसी लिङ्गको सेवन करके मुमुक्षु साधक, मोक्षका लाभ करता है। उस लिङ्गके तीन तरफ़ और तीन बिन्दु देख पड़ते हैं। पहिले पहिले

उन तीन बिन्दुओंको शंख, चन्द्र और कुन्दपुष्पके
से, त्रिकोणाकार में, लिङ्गके मध्य हृदयमें धारण कि
देख पडता है। उसके ऊंचे वालीको ज्येष्ठा, वाम भा
में रहने वालीको वामा, और दक्षिण दिशामें रह
वालीको रौद्री कहते हैं। ज्येष्ठा
विष्णुको, वामा ब्रह्माको, और
रौद्री रुद्रको आश्रय करके
रहती है; जब तब ज्येष्ठाका
रङ्ग ज्योत्स्ना, वामाका

ज्येष्ठा
वामा
रौद्री

रक्त वर्ण और रौद्रीका दलिताञ्जन, अर्थात् घो
हुआ कज्जलके समान देख पड़ता है। येही सत
रज, तम गुणके बोधक और उत्पादक प्रथम मा
विकार हैं। साधक के शरीरमें जब जिस गुण
स्थिति है, उस गुणानुसार इस बिन्दुका रङ्ग प्रत्यक्ष दे
पड़ेगा। जो गुणका वर्त्तमान, तदनुसार क्रियामें उ
की सिद्धि। और जब वह बिन्दु कुमारी अवस्था
रहेगी, तब साधक की शुद्ध सत्वगुणमय तुरी
अवस्था जानना। जब वामा रौद्रीमें आकरके और रौद्र
ज्येष्ठामें आकरके मिलेगी; तब पञ्च महाभूतोंकी सृ
कर्त्तृ और मङ्गला कहलावेगी। वह मङ्गला यन्
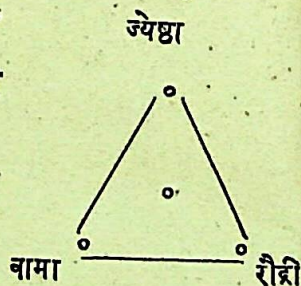
षट्कोण देख पड़ेगा। साधक इसी स्थानमें शाम्भवी स्थिति करके पञ्च तत्व, तीन गुण, त्रिगुणमय ईश्वर, और निर्गुण सदाशिवको प्रत्यक्ष करेगा (ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः)। उस यन्त्रके ऊर्द्ध (ऊपरके) चार कोणेमें आत्मा और नीचेके चार कोणेमें अन्तरात्मा, दक्षिण ऊर्द्ध कोणेमें परमात्मा, ऊर्द्ध रेखा दोनोंके चारों कोणोंमें मन, (जिस कारणसे मन सर्व्ववेत्ता, सर्व्वगामी) और दश इन्द्रियां पांचों भूतको आश्रय करके है प्रत्यक्ष करेगा। साधक की वासनाके अनुसार वामा धर्म्म, ज्येष्ठा अर्थ, रौद्री काम, और श्रीविन्दु (बीचला) मोक्षको देती है। यह जो श्री बिन्दुका मुख है, उसीको तारक ब्रह्म महेश्वर कहते हैं। और उसका हृदय अर्थात् भीतरी स्थान, विष्णुका निवास स्थान। इसलिये विष्णुका नाम "श्रीनिवास"। उस लिङ्गको शाम्भवीसे सेवन करते करते, लिङ्गके मध्यस्थान भेद होयके, मुख तो कमलके आकार और भीतरमें एक छिद्र देख पड़ता है। उसी छिद्रको भ्रामरी गुहा कहते हैं। वह गुहा सदा काल विक्षेप रूपिणी महा शक्तिसे रक्षित होती है। इस कारण करके साधक का प्रवेश होना कठिन है।

इसी गुहामें प्रवेशाधिकारी होनेके लिये, साधकको सा-
त्विकी आहार, सात्विकी व्यवहार और साधन चतुष्ट
का क्लेश सहना पड़ता है। उस गुहाके भीतर धर्म्मके
सार तत्व ब्रह्मण्यदेव विष्णुका विहार स्थान है
जैसा कि आर्य्य प्रवाद है, "धर्म्मस्य तत्वं निहि
गुहायां" धर्म्मका सार तत्व गुहाके भीतर छिपा है
वह विष्णुदेव, शिवलिङ्गके हृदयमें वास और सेव
कर रहे हैं, इस लिये, शिवसे वैष्णव एवं विष्णु
शैव दूसरे नहीं हैं (याने शिव विष्णु भिन्न नहीं हैं)
एकको छोड़कर एककी सेवा होती ही नहीं। जो करे
सो भ्रान्त है। हरिहरका अभेद, श्रीनाथ अपने श्रीमुख
विष्णुपुराणमें "मत् प्रिय शंकर द्वेषी मद्द्वेषी शंकर प्रि
उभये नरके यान्ति भारिणी भार भङ्गवत्" उपदे
किया है। बुद्धिमान साधक मुदित लिङ्गमें "ध्यायेन्नि
महेशं" शंकर ध्यानके अर्थको प्रत्यक्ष करके प्रस्फुटि
लिङ्गके भीतर श्रीपतिको "सवितरि मण्डल मध्यवर्त्ती
नारायण, सरसीजासन, सन्निविष्ट, केयूरवान्, कन
कुण्डलवान्, किरीटिहारी, हिरण्मयवपु, धृत शंख
चक्र" दर्शन करेगा। यहांसे ही पुराणी महामायाने प्रथ
दर्शनीय प्रवृत्तिका प्रसारण किया है। "यतः प्रवृत्ति

सप्रसूता पुराणी ” यहांसे ही मूलाधारचक्र, अर्थात् विषय भोग स्थान कर्म्म भूमि, पृथ्वीमें आनेके लिये जीवको प्रथम तैयार होना पडता है। “यस्मादागमनं तस्यास्तत्रैव गमनं प्रिये। यत्र तिष्ठति गायत्री तत्रैव आत्मनः स्थितिः। यथा विष्णुस्तथा आत्मा गायत्री सहिता तथा। यथात्माच तथा रुद्र आत्मा ब्रह्म-समन्वितः” (विद्युल्लतातन्त्रे शिव शक्ति सम्वादे) जीव आया है जहांसे, तहां ही जावेगा। जहां गायत्री की स्थितिका स्थान, तहां ही आत्मा रहती है। जहां गायत्री आत्मा, तहां ही विष्णुकी स्थिति। जहां विष्णु, आत्मा, गायत्री, तहां ही रुद्र। जो विष्णु आत्मा गायत्री रुद्रपद; वही ब्रह्मपद है। गुरूपदिष्ट क्रियामें साधक व्याहृतिका आश्रय करके प्रथम मनमें ऊँकारको धारण करके, जैसे जैसे ऊपर चढता चलेगा; वैसे वैसे आवरण शक्तिका भेद (लय) होता जावेगा। और कथित विषय सकल प्रत्यक्ष करते करते, गायत्री पदमें पहुंचकरके, स्वपर-प्रकाशात्मक-स्वरूप ज्ञान पावेगा। अतएव जीवन्मुक्तताजन्य “अहंममत्व” “मैं” “मेरा” नाश होकरके “सर्व्वं ब्रह्म मयं जगत्” के अर्थमें एक रसहोकर, फिर जीव शब्दके अर्थको

नहीं ग्रहण करेगा। अर्थात् ब्रह्म होजावेगा । फि
जीव न रहेगा। परमागतिको पावेगा । और आन
जाना रूप जन्म मृत्युका काम कुछ नहीं। इसीको
अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान, साधनसे मिलता
है, वाणीसे नहीं। जगत् गुरु जगन्नाथने एक ही श्लोकमें
यह समस्त उपदेश करदिया है ॥ १ ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्त्या जगत् प्रहृष्य-
त्यनुरज्यतेच ॥
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्व्वे नमस्य-
न्ति च सिद्धसंघाः ॥ २ ॥

हे हृषीकेश! (हृषीका = इन्द्रियां, ईश = नियन्ता
हे इन्द्रियोंके नियन्ता) तव प्रकीर्त्त्या (महात्म्य सङ्की
र्त्तनेन) जगत् प्रहृष्यति, अनुरज्यतेच (अनुराग
उपैति च) इतियत्; रक्षांसि भीतानि (सन्ति) दिश
(प्रति) द्रवन्ति (पलायन्ते) इतियत्, सर्व्वे च सिद्ध
संघाः (सिद्धसमूहाः) नमस्यन्ति च (इतियत्एतच्च
स्थाने (युक्तमेव) ॥ २ ॥

हे हृषीकेश ! आपके महात्म्य कीर्तनमें जगत्को जो अतिशय (असीम) आनन्द प्राप्त होता है, और जगत् जो अनुराग करता है। डरते हुए राक्षसों दिशामें भागते फिरते हैं; और सिद्धगण जो आपको नमस्कार करते हैं, सो समस्त उचित है ॥ २ ॥

अनु० ॥ साधक जब तारनेवाले ब्रह्म ज्ञानको प्राप्त करते हैं; तब भेदज्ञान आपही आप अन्तःकरणसे मिटजाता है। जहां "मैं" "मेरा" नहीं समभाव है; वहां काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भेदवादी कदाचारी (काम क्रोधादिके वशीभूत होकर जो कार्य्य करते हैं, उसका नाम कदाचार है; ब्राह्मण कदाचारीको राक्षस; क्षत्रिय कदाचारीको दैत्य, वैश्य कदाचारीको दानव, एवं शूद्र कदाचारीको चाण्डाल कहते हैं) अज्ञानता दशों दिशामें भागी फिरती है। और सिद्धगण, अर्थात् जो साधक अपनी इच्छानुसार सिद्धि (प्राप्तिकी प्राप्ति) प्राप्ति कर चुके हैं, वे लोकोंको अपनी अपनी प्राण क्रियाके ऊपर हरदम लक्ष करके, काल व्यतीत करते हुए देखते हैं। साधक और भी यहां प्रत्यक्ष करते हैं कि, स्तोत्र मन्त्रादि केवल मुखमें बोलनेसे ही यथार्थ कीर्त्तन नहीं होता। सत् गुरूपदिष्ट क्रियासे जब जिव्हा, ओष्ठ, चक्षु

मन, प्राण न चलेगा, तब यथार्थ कीर्त्तन होता है। मन्त्र स्तोत्रादि पाठसे भगवानका मुख्य कीर्त्तन नहि होता है; किन्तु गौण कीर्त्तन होता है। जिनको मुख्य कीर्त्तन ज्ञान नहीं है, उनको गौण कीर्त्तन अवश्य करनीय है। गौण कीर्त्तन करते करते, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास दृढ़ होनेके बाद, आप ही आप समय पाके मुख्य कीर्त्तन प्राप्ति होजाती है। गुरूपदिष्ट ॐकार क्रियाको प्रणाम करते हैं (गुरुमुख गम्य) ॥ २ ॥

सर्व्वतः पाणिपादन्तत् सर्व्वतोऽक्षि शिरो-
मुखं।
सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति
॥ ३ ॥

तत् सर्व्वतः पाणि पादं, सर्व्वतः अक्षि शिरो मुखं सर्व्वतः श्रुतिमत् (श्रवणेन्द्रियैः युक्तं) लोके सर्व्वं आवृत्य तिष्ठति ॥ ३ ॥

तत् सो (ब्रह्म) सर्व्वत्र हस्त, पाद, चक्षु, मस्तक

कर्ण और मुखकी क्रिया विशिष्ट। लोकोंके भीतर बाहिर सकल स्थानमें व्याप्त है ॥ ३ ॥

अनुभवाभास ॥ पतितपावन जगत् गुरु श्रीनाथ इस श्लोकमें; जो सत् और असत् दोनोंसे अलग ज्ञेय पद; तिसीका उपदेश कररहे हैं। जिस विषयको समझना मुक्तात्माके बिना, दूसरेकी शक्तिके बाहिर है। जो विषय, मुक्तात्मा भी अपने तो समझेगा, किन्तु दूसरेको नहीं समझा सक्ता; तथापि; जिस क्रियासे साधक उस पदको जान सकेगा; मुक्तात्मा उस क्रिया की रीति मात्र कहदेता है। जिसमें साधक अपनी शक्ति अनुसार, जितना जितना उभरता चलेगा, उतना उतना आपसे आप समझता चलेगा। क्षेत्रज्ञपदमें पहुंचनेसे, निज बोध रूप प्रत्यक्ष ज्ञानके अविच्छेद प्रवाह से; साधक एकही जगहमें बैठकर, विश्वकोषका सकल व्यापार मालूम करलेवेगा। इसीको गुणातीत पद कहते हैं। आप अलग रहकर, दूसरे करनेवालोंका काम देखनेसे, जैसे समझमें आता है, वैसे साक्षीवत् स्थितिजन्य, सुख, दुःख आदि जो गुणका कार्य्य है, इसमें साधकको चलायमान कोई नहीं करसक्ता। अर्थात् साधक इस अवस्थामें यह स्पष्ट मालूम करेगा कि, सब

गुण इन्द्रियोंमें, इन्द्रियां गुणोंमें मिलकर अपना अप काम कर रही हैं। किन्तु मैं कुछ नहीं करता। साध यहां अपनेको स्थावर जङ्गम रूप करके, जीव मात्र बाहिर और भीतर विराजमान, (अति सूक्ष्म होनेसे रूपादि विहीन, अविज्ञेय (अर्थात् साधन करके ज्ञेय, और बिना साधनसे अज्ञेय) जाननेके योग्य न है। जानने वालोंके तो हरदम निकट, और न जान वालोंके लिये बहुत दूर। सकल इन्द्रियोंकी कार्य्य शा स्वरूप अथच इन्द्रियोंसे रहित; असङ्ग तथाच सकल आधार; गुण रहित होनेसे भी, गुणका पोषण कर वाला देखेगा। जीवोंके साथ अभिन्न होनेसे भी, भि होकर रहनेमें (अर्थात् ज्ञानीके चक्षुमें तो अभे और अज्ञानीके चक्षुमें भेद रूपसे) प्रत्यक्ष करेगा उस अवस्थामें रहकर, साधक अपनेको स्थिति काल भूतमा-त्रका पालन, प्रलय कालमें ग्रास, और सृ कालमें प्रभविष्णु (अर्थात् हरएक कार्य्य रूपसे उत्पा होने वाला ऐसा) देखेगा। सृष्टि, स्थिति, लय, प्र क्षणमें होती है (गुरु बोध गम्य)। साधक अपनेको इ अवस्थामें, सूर्य्यादि की भी ज्योति अर्थात् प्रकाश कर वाले; अज्ञानसे पर अर्थात् अज्ञानतासे अस्पर्शनी

मात्र मालूम करेगा। अधिकन्तु, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य (अर्थात् साधनासे प्राप्य) और सकल जीवके हृदय में (प्रति अणु परमाणुमें) नियन्ता मैं ही हूं प्रत्यक्ष करेगा ॥ ३ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनु-
स्मरेद्यः ॥
सर्व्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्य वर्णं
तमसः परस्तात् ॥ ४ ॥

कविं (सर्व्वज्ञं) पुराणम् (अनादि सिद्धम्) अनुशासितारम् (नियन्तारम्) अणोः (सूक्ष्मात् अपि) अणीयांसं (अति सूक्ष्मं) सर्व्वस्य धातारं (पोषकम्) अचिन्त्य रूपम् (मलीमसयोः मनो बुद्ध्याः अगोचरम्) आदित्य वर्णं (आदित्यवत् स्वपर-प्रकाशात्मक-स्वरूपम्) तमसः (प्रकृतेः) परस्तात् (वर्त्तमानम्) पुरुषम् ॥ ४ ॥

कवि (सर्व्वज्ञ) पुराण (अनादि) अनुशासिता (नियन्ता) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम; सकलका पालन कर्त्ता,

मलिन मनो बुद्धिका अगोचर, प्रकृतिके परे वर्त्तमान
सूर्य्यके सदृश भास्वर पुरुष मात्र ॥ ४ ॥

अनुभवाभास॥ साधक अपनेमें अपनेको कवि देखेगा
हरदम जो नई बात बतावे वही कवि; अर्थात् निश्वास
और प्रश्वासको आश्रय करके प्रकृति सती, अपने स्वरू
को बदलनेवाली शक्तिसे, भोग रागमें पुरुषको मोहि
करनेमें कैसी दृढ है (चक्षुके पन्ना तो पड़ता नहीं, किन
एकके बाद एक नवीन रूप देख पड़ता चला जाता है
एक स्वरूपको दो दफे देखनेकी फुर्सत नहीं मिलती
इतनी जल्दीसे काम चल रहा है)। पुराण अर्थात्
आज मैं ही केवल देखता हूं, पेश्तर और किसीने नहीं
देखा, ऐसा नहीं। जब जो देखता है, तब सो देखत
है। शरीर पतन होनेसे मेरेमें क्षति, और रहनेसे वृद्धि
कोई नहीं। अनुशासितार (नियन्तार) रं = अग्रमें
प्रकाशक, अर्थात् जगत् (जो जानेवाली वस्तु) क
अणु परमाणुमें प्रकाश करनेवाला मैं हूं। पृथ्वी, जल
अग्नि, वायु और आकाशके, जो सूक्ष्म अणु कुटस्थ
ब्रह्ममें रङ्ग रूप धारण किये हैं। जिनको योगी लो
तत्त्व कहते हैं। जिन रङ्गोंको पहिचाननेसे, त्रिकाल
(अर्थात् जो होचुका, जो होवेगा और हो रहा है इ

तीनोंको जाननेवाले) तत्त्व ज्ञानी बनते हैं; (क्रिया गुरु मुख गम्य) सो तत्त्व समूहके भीतर बाहिर अपना तेज प्रवेश करके मैं प्रकाश करता हूं। मैं सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होनेसे सर्व्वस्य (अर्थात् परिणामी मायाका) धातारं; पोषण करने वाला हूं। अचिन्त्य रूपम् (मन; चित्त और बुद्धि करके जगत्में चिन्ता और रूपका ग्रहण; वह चिन्ता और रूप भी अलग अलग करके व्येष्टिजन्य स्वादि, किन्तु मैं अनादि, अर्थात् सकलका समष्टि। साधक मात्रको क्रियाकी परावस्थासे प्रत्यक्ष होता ही है। इसी कारण चिन्ताके अगम्य और रूप से विहीन हैं) चिन्ता चित्तको, रूप तेजको आश्रय करके हैं। चित्त और तेज प्राणको आश्रय करके हैं। वह प्राण, तीन गुणके अतीत तुरीय स्थान आज्ञा चक्रमें; सम्यक् करके अपने स्थिति अथवा लय न होने पर्यन्त गुणकी क्रिया रहती है। जब तक गुणकी क्रिया रहेगी; तब तक यह " मैं " नहीं हूं (अनुभव पद)। मूलाधार कमलसे नाभि; मणिपुर कमलके ठीक नीचे तक तमः गुणकी स्थिति। नाभिसे कण्ठ, विशुद्धाख्य कमलके ठीक नीचे तक रज गुणकी स्थिति। कण्ठसे भ्रू मध्यवर्त्ती आज्ञा चक्रके ठीक नीचे तक सत्व गुणकी स्थितिका

स्थान है। साधक प्राण वायुको आश्रय करके जब पृथ्वी
जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाश औ
आकाश पराकाशमें चढ़ाकर अहंकारको लय करेगा
करते ही मात्र अपनेको (मलमयी मनोबुद्धिके अगोचर
प्रकृतिसे परे वर्त्तमान, पुरुष मात्र मालूम करेगा (अ
भव पद)। यहां ही आवरण और विक्षेप नामा ईश्वरी
महाशक्ति दोनोंका विराम स्थान है। यहांसे ही साध
ने उन शक्तियोंके गर्भमें जीव होकरके जन्म लिया था
अब अपनेको वह दोनों शक्तिका आश्रय स्थल, अर्था
पति करके प्रत्यक्ष करता है। यहां ही "जननी रमणी
रमणी जननी" का अर्थ साक्षात् होता है। यह प
कैसे है? आदित्य वर्णं। सूर्य्य जैसे, अपनेमें मह
प्रकाश रखकर भी अपने गर्भस्थ कालिमा मय भूमिक
प्रकाश करके, उससे आप प्रकाशित होता है; वैसे मेरे
माया और माया करके मैं (माया, प्रकृति, इसक
विश्वको वाचक जानना)। यही तमसः परस्ता
अर्थात् तमसा प्रकृतिसे अलग वर्त्तमान, पुरुष प्रत्य
करादेता है; जीवन मुक्त भी आप ही आप अवश्
होना पड़ता है॥ ४॥

ॐ ऊर्द्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुर-
व्ययम् ॥
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद सवेद
वित् ॥ ५ ॥

ऊर्द्ध मूलम् (ऊर्द्धम् आज्ञाचक्रात् सहस्रार पर्य्यन्तं मूलम् यस्य तम्) अधः शाखम् (अधः आज्ञाचक्रस्य निम्ने शाखा यस्य तम्) (जन्म मृत्यु प्रवाह रूपेण अविच्छेदात्) अव्ययम् (देहम्) अश्वत्थम् (श्वः प्रभातं पर्य्यन्तमपि-नस्थास्यतीति) प्राहुः; छन्दांसि (वेदाः) यस्य पर्णानि धर्म्माधर्म्म प्रतिपादन द्वारेण छाया स्थानीयैः कर्म्म फलैः देहस्य सर्व्वं जीवाश्रयणीयत्व प्रतिपादनात् पर्ण स्थानीयाः वेदाः) तं (एवम्भूतम् अश्वत्थम्) यः वेद, सः (एव) वेदवित् ॥ ५ ॥

ऊर्द्ध मूल अर्थात् आज्ञाचक्रसे सहस्रार तक जिस की जड़ । अधः शाख अर्थात् आज्ञाचक्रसे नीचे जिसकी शाखा । और जन्म मृत्यु रूप अखण्ड प्रवाह जन्य जो अव्यय । दूसरे सूर्य्योदय तक जिसकी स्थितिका भरोसा कुछ नहीं। त्रैगुण्योपासना (अर्थात् स्वगुण उपासना करके

प्रसिद्ध) समस्त वेद जिसका पत्र। ऐसे शरीर रूप अश्वत्थ वृक्षको, जिसने जाना, उसने सब वेदको जाना ॥ ५ ॥

अनुभवाभास ॥ साधन अवस्थामें जितना जानने को, सुननेको, देखनेको एवं समझनेको था; गुरूपदेश दिनेसे प्रारम्भ करके, आज साधक चरम दिनकी चरम सीमामें पहुंचगये। अब खण्डन मण्डनकी समाप्ति कर के, सिद्धान्त पदमें स्थिति भया। जिसलिये अहं ब्रह्म ज्ञानका स्फुरण होता है कि, ऊंचे जिसका मूल (अर्थात् मस्तक) और नीचे जिसकी शाखा (अर्थात् हाथ, पग, अंगुलियां आदि) अश्वात्थ (अ = नास्ति, श्व = दूसरे दिनके प्रातःकाल तक, त्थ = स्थितिका भरोसा) अपान वायुके रेचन कार्य्यजन्य शरीरके भीतरसे जो वायु बाहिर निकल आता है; जिसको साधारणसे निश्वास (निः = नास्ति श्वास = प्राणवायु) एवं योगी लोग जिसको क्षण प्रलय रूप मृत्यु कहते हैं। क्यौंकि जो वायु निकल गया, और जो शरीरके भीतर फिर आवेगा, वैसे जिसमें निश्चयता कुछ नहीं। सो नश्वर अथच स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारणादि शरीर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय आदि नाम रूपमय मायांश और सत, चित्, आनन्दमय चैतन्यांशकी एकता ही

अखण्ड ब्रह्मवादकी अव्ययता है। वेद = ज्ञान, (ज = जायमान, ञ = गन्धाणु, आ = आसक्ति, न = नास्ति) गन्धाणु पृथ्वीके लिये इशारा है। जो पृथ्वीमें पांचों भूतका विशेष प्रकाश लिये, बहु परिणामसे उत्पन्न करता है; तिसमें जिसकी आसक्ति नहीं है, सो गुरु ब्रह्म अर्थात् अज। उसी स्वरूपमें ज्ञान "शब्द" भी, पत्ती अर्थात् झड़ती पड़तीमें रहजाते हैं। क्योंकि पहुंच नहीं है। ज्ञानकी परिपाक अवस्थामें विज्ञानका उत्थान; उसके परिपाकके बाद ब्रह्मत्व। यहां ज्ञान रूप करके "ज्ञान" शब्दका प्रयोग करनेवाली शक्ति कोई नहीं रहती) ज्ञान क्या है, किसको होता है? जीव को! तं शब्द जीवका बोधक है? किन्तु वह तं वाला जीव अब कहां? तत् और तं आदि शब्द, केवल शब्द मात्र, वस्तु शून्य विकल्प। पहिले तो मैं तं था, तिसके बाद तत् भया, तिसके बाद सत्, असत् भी होना पड़ा था। किन्तु मेरे शरीरमें से कुछ नहीं बदला। अब भी वही मैं (सत्, असत्, तत् परंयत्) इन तीनोंसे भी भिन्न कैसे एक विलक्षण करके देखता हूं। अतएव इस शरीर रूप अश्वत्थ वृक्षको (गुरुउपदिष्ट क्रियासे) जिसने जाना, उसने सबको जाना ॥ ९ ॥

सर्व्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः
स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ॥
वेदैश्च सर्व्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत्
वेदविदेव चाहम् ॥ ६ ॥

अहं सर्व्वस्य (प्राणिजातस्य) हृदि सन्निविष्टः (अन्तर्य्यामिरूपेण प्रविष्टः) (अतः) मत्तः (एव हेतोः) (पूर्व्वानुभूतार्थविषया) स्मृतिः, (विषयेन्द्रियसंयोगजं) ज्ञानम्, अपोहनञ्च (तयोः प्रलयश्च) (भवति)। सर्व्वैः वेदैश्च अहं एव वेद्यः, (ज्ञातव्यतया वर्णितः) वेदान्तकृत् (ज्ञानदः गुरुः) वेदवित् च अहमेव ॥ ६ ॥

मैं सकल प्राणियोंके हृदयमें (अन्तर्य्यामी रूपसे प्रविष्ट हूं) जिसलिये, हमही से (पूर्व्वकृत कर्म्मका अनुभवजन्य) स्मृति, (और विषयके साथ इन्द्रियोंका संयोग करके) ज्ञान, और उन दोनोंका विलय होता है। ज्ञातव्य रूपसे मुझको सकल वेदमें वर्णन किया; और मैं वेदान्तकृत्, अर्थात् ज्ञानदाता गुरु, एवं वेदके अर्थको जाननेवाला हूं ॥ ६ ॥

अनुभवाभास ॥ साधनाके फल करके, साधक

अपनेको अब निराश्रय, अथच संकलका आश्रय प्रत्यक्ष कर रहे हैं। निज बोध रूप प्रकाश करके, अहं ब्रह्म ज्ञान में मस्त हैं। पुस्तकादि पाठ करके जो ज्ञान होता है; तिसको मुखभारती, अर्थात् वाचिक ज्ञान कहते हैं। स्वप्नावस्थाके न्योता खानेमें जैसे पेट नहीं भरता है, किन्तु मुखसे निकली हुई लालासे तकिया भीजता है, वैसे, वाचिक ब्रह्मज्ञानसे सभामें वक्तृता करके कण्ठ-स्वरकी प्रशंसा मिलती है; किन्तु शान्ति नहीं मिलती। प्राण और अपानके संयोगसे जो, वैश्वानर नामक अग्निका प्रकाश होता है; (सामान्य साधक भी इस अग्निका रूप प्रत्यक्ष कर रहा है) जो अग्नि चव्य, चोष्य, लेह्य, पेय, अन्न मात्रका परिपाक करके, जगत्की पुष्टि वर्द्धन कर रही है। जिसका क्षण मात्र विश्राममें, जगत् रूप देहका लय होता है; प्राणायाम सिद्ध असीम शक्ति से, साधक अब उसी अग्निकी सत्ता होकरके, अग्निको शान्ति करके भी, शरीरका अस्तित्व सम्पादन कररहा है। ज़गत्को स्पर्श न करके भी, साधक अनादि कालसे धारक रूपसे है, जिसलिये, विश्व (वि = विगत श्व = दूसरे रोज़का प्रातःकाल अर्थात् जिसमें दूसरे रोज़का प्रातःकाल नहीं, सो अनन्त) का भी,

अनादित्व प्रतिपादन कररहा है। साधककी दृष्टिमें अब (अनादि अनन्त ब्रह्ममें) स्वादि स्वान्त शब्द मात्रका भी अभाव आगया। प्रकृति लय करके "पूर्व्व" शब्द का अर्थ असिद्ध जन्य; स्मृति, ज्ञान, वेदादि भी, अपने रूप करके, स्वयं वेदान्तकृत् शब्दका अर्थ होगया, देख रहा है ॥ ६ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्‌याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत् परायणः॥ ७॥

मन्मनाः (मयि एव मनो यस्य सः) मद्भक्तः (मत् सेवकः) मद्‌याजी (मत् पूजनशीलः) भव; मां नमस्कुरु; एवं (एभिः प्रकारैः) मत् परायणः (सन्) आत्मानं (मनः) मयि युक्त्वा (समाधाय) माम एव एष्यसि॥ ७॥

तुम मत् गत चित्त, मेरे भक्त और मेरे उपासक होकरके, हमहीको नमस्कार करते रहो। मत् परायण हो, और इस रीतिसे, हममें समाहित होनेसे हमको पाओगे ॥ ७॥

अनुभवाभास ॥ जब सर्व्वं ब्रह्ममयं जगत् ऐसा है; तव ज्ञान दृष्टिके पूर्ण प्रकाशसे, संसार अनित्य अथवा असुखका कारण कुछ नहीं मालूम होता। जीव भावसे जगत्के ऊपर आसक्ति करके नित्य, अनित्य, सुख और दुःखका बोध होता है। जिसलिये, ऐसे विस्तृत विश्वके भीतर, "मैं" कहनेसे कोई किसीको देख नहीं पड़ता। जिसको देखो, सकलके ऊपर "मेरा" शब्दका अर्थ घटता है; "मैं" घटता नहीं। किन्तु सत् गुरु चरण कृपातें, क्रियाका साधन करते करते, जैसे जैसे निज बोध रूप ज्ञानका प्रकाश होता चलेगा, वैसे वैसे इस जगत् नित्य और पूर्ण सुखके आकर करके प्रतीयमान होता जावेगा। जब सम्यक आसक्ति छूटेगी, तव? तव मेरेसे खण्डित होकर, नाम रूपमय मायांश जो अलग है, सो मेरेमें मिलित होकर, ऐसा एक "मैं" बनजाता है, जिसमें स्थिति होनेसे विश्वका विश्वत्व लय होकर, "मैं" ही मैं भासता रहता है। साधक ऐसे स्थितिको प्राप्त होकर आपही आप समझेगा कि, (गुरु वाक्यमें विश्वास करके क्रिया करनेके बाद) मन्मनाः; ऐसे हम में जिसका मनोलय होकर रहता है; मत्याजी; अर्थात् ऐसे जो आत्म क्रिया करते हैं; मां नमस्कुरु; ऐसे जो

अपनेको अपने प्राणायाम क्रियासे (अनुलोम विलोम) नमस्कार करते हैं। मत्परायणः; मत् = मैं, पर = ब्रह्म, अयण = गति; अर्थात् जो क्रिया करके जीवत्व स्थापन किया था; उससे ठीक विपरीत क्रिया करके, जो ऐसे "मैं" में आपहुंचता है, सो ऐसे "मैं" भिन्न और कुछ न देखेगा ॥ ७ ॥

॥ फलश्रुति ॥

य इमं परमं गुह्यं सप्त श्लोकमुपासते * * ।
स्मरणात् विष्णुस्वरूप्य मरणात् मोक्ष माप्नुयात् ॥
हीनेन्द्रियाः हीनशुक्रा वृद्धा बालस्तथाबलाः ।
हीनमांसाश्चयेकेचित् तेषाञ्चेदं शुभं भवेत् ॥

ॐ हरि ॐ। ॐ तत्सत् ॐ। ॐ इति श्री मद्भगवद्गीता सुपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे श्रीकृष्णार्ज्जुन संवादे शान्तानन्दी सप्त श्लोकी गीतानुभवाभास संपूर्ण॥

॥ श्रीकृष्णार्पण मस्तु ॥
॥ ॐ ॥

शुद्धाशुद्ध पत्र.

विज्ञापनके पृष्ठ २ पंक्ति १० में आधीनकी जगह अधीन पढना चाहिये.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	७	मनुष्योंकी	मनुष्यकी
८	११	त्पर:	तत्पर:
,,	,,	एक वस्तुको एक वस्तुमें	एक वस्तुको कोई एक वस्तुमें
,,	२०	वि = विगत = स्वास	वि = विगत, श्व = स्वास
,,	२०	वायु:क्रिया।	वायु:क्रिया यहां नहीं।
१०	२	चौ-कार	चो-कार
१६	१८	अवस्था जानना।	अवस्था जानना (इस अवस्थामें साधक केवल क्रियामें लिप्त रहेगा)।
१६	२०	कर्त्तृं	कर्त्ता
१९	७	समन्नितः	समन्वित:
२०	१२	(महात्म्य सङ्कीर्त्तनेन)	(माहात्म्य संकीर्त्तनेन)
२१	१	महात्म्य	माहात्म्य
,,	३	राक्षसों	राक्षस
२२	१६	पाद	पद
२४	१२	(अर्थात् ज्ञानीके)	(अर्थात् ज्ञानी साधकके)
२६	८	चलाजाता है।	चला ही जाता है।
२७	८	व्येष्टिजन्य	व्यष्टिजन्य
३०	१०	अश्वात्थ	अश्वत्थ
३१	२०	सबको जाना।	सब जाना को जाना।
३६	९	विष्णु स्वरूप्य	विष्णुसारूप्य